निवेदन।

"श्री आत्मानंद जैन सभा अंबाला शहर" ने एक 'ट्रैक्ट सोसायटी' कायम की है जिसका उद्देश जैन तत्वोंका सर्व साधारणमें प्रचार करना है नियमावली प्रकार है।

१ इस सोसायटीका मेम्बर हरएक जैनी हो है चाहे श्वेतांबर हो या दिगंबर या स्थानकवासी.

२ मेम्बर होनेकी फीस कमसे कम एक रुपया वार्षिक है अधिक देनेका हरएकको अधिकार है। फीस ली जायगी।

३ इस सोसायटीका वर्ष ता० १ जनवरीसे आरंभ होता है। जो महाशय मेम्बर होंगे वह चाहे किसी मेम्बर बने हों किंतु चंदा उनसे ता० १ जनवरीसे ता० ३१ दिसंबर तकका लिया जायगा-

४ जो महाशय अपने खरचसे कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर विनीर्ण कराना चाहें उनका नाम ट्रैक्टपर छपवाया जायगा।

५ जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हरएक मेम्बरके पास विनामूल्य भेजे जाया करेंगे।

प्रार्थी-

सेक्रेटरी

प्रस्तावना

श्रीमद्विजयानन्दसूरिपादपद्मेभ्यो नमः

प्रिय सज्जनो!

यह 'संबोधसत्तरि' नामक ग्रन्थ अपूर्व और हितकारी है। इस मूल ग्रन्थकी रचना, परोपकाररत श्रीमान् रत्नशेखर सूरीश्वरजी महाराजने बड़े परिश्रमसे श्रीसिद्धान्तोंसे उत्तमोत्तम भाव निकालकर प्राकृत गाथाओंमें की है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित विषयोंसे भरपूर और रसिक है। ग्रन्थके आद्य श्लोकमें शासनपति श्रीवर्द्धमान-स्वामीको नमस्काररूप मंगलाचरण किया है।

द्वितीय श्लोकमें रसाधिराज शान्त रसका उद्भवन किया है क्योंकि शान्तरस एक शिवसुखकी प्राप्तिमें अद्वितीय साधन है इतना ही नहीं किन्तु मोहराजाके सैन्यसे घबड़ाकर इस जगतमें अज्ञानरूपी अन्धकारमें गोते खाते हुए प्राणियोंने भ्रान्तिसे दुःखमें सुखकी बुद्धिको धारण किया है कि यही वास्तविक सुख है।

शान्तभाव विना कहीं सुख नहीं है यही आशय नीचेके श्लोकसे निकलता है।

"स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाकुले ॥१॥"

जो सम्यक्त्व है वही आत्माका स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणोंकी प्राप्तिके लिये एक अद्वितीय साधन है। सम्यक्त्व शुद्धदेव शुद्धगुरु और शुद्धधर्मरूपी तीन तत्त्वोंका स्वरूप जाने विना नहीं हो सक्ता। उसको जाननेके लिये इस ग्रन्थमें इन तीनों तत्त्वोंका स्वरूप संक्षिप्त रीतिसे दर्शाया गया है

और उसीके साथ ही उपर्युक्त तीन तत्वोंका प्रतिपक्षी अतत्व-कुदेव, कुगुरु और कुधर्मके स्वरूपको भी सामान्य रीतिसे दर्शाया गया है। जो धर्मगुरु हैं वे एक धर्मके नेता हैं और खासकर पूर्वोक्त तत्वादिकके बतलानेवाले भी वे ही गुरुमहाराज हैं। आजकलके जीवोने तो ऐसा मान रखा है कि सफेद उतना दूध इस मिथ्या भ्रान्तिको दूर करनेके लिये धर्मात्मा पुरुष कुगुरु मिथ्या प्रपंचरूपी जालमें न फसें इस हेतुको अभिमुख रखकर कुगुरुको वदन करनेका फल तैसे ही पासथ्या कुशीलीया आदिका भी स्वरूप सक्षेपसे निरूपण किया है। इसके साथ, सम्यक्त्वकी दुर्लभता और उसका फल भी दर्शाया गया है। इसी प्रस्तावनामें ऊपर लिख दिया है कि शान्तरस ही मोक्षसुखका साधन है उसीकी प्राप्तिके लिये सामायिकादि धर्मकृत्य करनेके लिये शास्त्रकारोंने फरमाया है। सामायिकका फल तथा उसका लक्षण भी प्रतिपादन किया है। जो स्वयं आत्महितमे उद्यमवान् रहे उसीका नाम साधु है। और उनका अधिपति श्रीआचार्य कहा जाता है उनके जो छत्तीस गुण हैं वे भी इसमे दर्ज हैं। तथा साधुके सत्ताईस गुण भी इस ग्रथमें लिख दिये हैं। जो श्रद्धापूर्वक तत्वोंका श्रवण करे तथा देशथकी व्रतोंकी पालना करे उसको श्रावक कहते हैं और उनके २१ गुणोंका भी वर्णन भले प्रकारसे किया है। जिन्होंने स्वयं आत्मिक बलसे रागद्वेषरूपी सुभटोंका पराजय कर आत्मिक गुण केवलज्ञानकी प्राप्ति की है वे जिन कहलाते हे और उनके कथित जो शास्त्र हैं वे आगम कहे जाते है। इत्यादि अनेक विषयोंसे भरपूर इस ग्रथको बनाकर सूरीश्वरजीने जनसमूहपर महान् उपकार किया है। इस ग्रन्थका अनिश्चितनामधेय किसी परोपकारपरायण महाशयने गुजरातीमें अनुवाद भी प्रसिद्ध किया है।

न्यायाम्भोनिधि, कोलकालसर्वज्ञ, श्रीमद्विजयानदसूरि (श्री आत्मारामजी) महाराजके पट्टधर शुद्धधर्मप्ररुपक जैनाचार्य श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी महाराज जो कि जैन मुनियोंमें एक अग्रगण्य ग्मा हैं तथा आपकी अध्यात्मदशा अलौकिक और परमादरणीय है और आपके सदुपदेशामृतसे जैन व जैनेतरोंमें जो जो स्वर्णाङ्कित कार्य हुए है वे सभी पृथ्वीतलपर विस्तृत हैं और आपकी प्रौढ विद्वत्ता तथा परम प्रतापसे आपकी मौजूदगी-मे जिस२ स्थानपर अर्थात् पजाबदेश गुजरानवाला आदि जैनेतर जैनाभासोंने अन्य विरोधियोके बहकानेसे जो कुछ वाद-विवादका मामला उठाया था जिसमें जैनका जय और विरोधियों-का पराजय हुआ था ऐसे परमपूजनीय, प्रात स्मरणीय, श्रीमान् आचार्यजी महाराजके शिष्य, सुप्रसिद्द विद्वान्, जैनरत्न व्याख्यान-वाचस्पति, मुनिराज, श्रीगुरुवर्य्य श्रीलब्धिविजयजी महाराज जिन्होंने अपने प्रसिद्ध भाषणोंद्वारा उत्तमोत्तम कार्य कर जनसमूहका परमोपकार किया है ऐसे पूज्यात्माओंकी परम कृपासे मेरे गुरुभ्राताने प्रथम ही यह हिंदी-भाषान्तर करनेमें उद्यम किया है अतएव इस लघु कार्यमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह गई हो या जैनसिद्धान्त शैलीसे कुछ विरुद्ध लिख गया हो तथा दृष्टिदोषसे और छापेकी गलतीसे किसी भी प्रकारकी अशुद्धता रह गई हो तो अनुवाद-ककी तरफसे=मिच्छामि दुक्कड=

लेखक—

मुनि उग्रविजय, खंभात बंदर ।

धन्यवाद।

श्रीमान् माणेक मुनिजीकी तरफसे इस ग्रथके भाषान्तर करनेमें मुझे बहुत सहायता मिली है इस लिये—
तथा प्रतापगढ मालवाके श्रेष्ठिवर्य्य श्रीयुक्त लक्ष्मीचन्द्रजी मीया, प्रान्तिक कान्फ्रेंसके सेक्रेटरीके परम मित्र श्रीयुक्त झमकलालजी रातडियाने इस पुस्तकको शुद्ध लिपिमें धर्मार्थ लिखा है अतएव इन पूर्वोक्त महाशयोंको धन्यवाद देनेमें आता है।

भाषान्तरकर्ता।

पुस्तक मिलनेका स्थान—

(१) श्रीआत्मालब्धिजैनलाइब्रेरी—मेरठ तहसीलके पास (२) लाला नाथूरामजी जैनी-जीरा जिला फीरोजपुर—पजाब, (३) बाबू चेतनदासजी जैनी-चुडीसराय-मुलतान सिटी, (४) श्रीआत्मानंदजैनसभा-भावनगर सिटी

(प्रसिद्धकर्त्ता)

प्रस्तावना।

श्रीमद्विजयानन्दसूरिपादपद्मेभ्यो नमः

प्रिय सज्जनो !

यह 'प्रबोधसत्तरि' नामक ग्रन्थ अपूर्व और हितकारी है। इस मूल ग्रन्थकी रचना, परोपकाररत श्रीमान् रत्नशेखर सूरीश्वरजी महाराजने बड़े परिश्रमसे श्रीसिद्धान्तोंसे उत्तमोत्तम भाव निकालकर प्राकृत गाथाओंमें की है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित विषयोंसे भरपूर और रसिक है। ग्रन्थके आद्य श्लोकमें शासनपति श्रीवर्द्धमान-स्वामीको नमस्काररूप मंगलाचरण किया है।

द्वितीय श्लोकमें रसाधिराज शान्त रसका उद्भवन किया है क्योंकि शान्तरस एक शिवसुखकी प्राप्तिमें अद्वितीय साधन है इतना ही नहीं किन्तु मोहराजाके सैन्यसे घबड़ाकर इस जगतमें अज्ञानरूपी अन्धकारमें गोते खाते हुए प्राणियोंने भ्रान्तिसे दुःखमें सुखकी बुद्धिको धारण किया है कि यही वास्तविक सुख है।

शान्तभाव विना कहीं सुख नहीं है यही आशय नीचेके श्लोकमें निकलता है।

"स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोहविषादविषाकुले ॥१॥"

जो सम्यक्त्व है वही आत्माका स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणोंकी प्राप्तिके लिये एक अद्वितीय साधन है। सम्यक्त्व शुद्धदेव, शुद्धगुरु और शुद्धधर्मरूपी तीन तत्त्वोंका स्वरूप जाने विना नहीं हो सकता। उसको जाननेके लिये इस ग्रन्थमें इन तीनों तत्त्वोंका स्वरूप संक्षिप्त रीतिसे दर्शाया गया है

और उसीके साथ ही उपर्युक्त तीन तत्वोंका प्रतिपक्षी अतत्व-कुदेव, कुगुरु और कुधर्मके स्वरूपको भी सामान्य रीतिसे दर्शाया गया है। जो धर्मगुरु हैं वे एक धर्मके नेता हैं और खासकर पूर्वोक्त तत्वादिकके बतलानेवाले भी वे ही गुरुमहाराज हैं। आजकलके जीवोंने तो ऐसा मान रखा है कि सफेद उतना दूध इस मिथ्या भ्रान्तिको दूर करनेके लिये धर्मात्मा पुरुष कुगुरु मिथ्या प्रपंचरूपी जालमें न फसे इस हेतुको अभिमुख रखकर कुगुरुको वंदन करनेका फल तैसे ही पासथ्या कुशीलीया आदिका भी स्वरूप संक्षेपसे निरूपण किया हैं। इसके साथ, सम्यक्त्वकी दुर्लभता और उसका फल भी दर्शाया गया है। इसी प्रस्तावनामें ऊपर लिख दिया है कि शान्त-रस ही मोक्षसुखका साधन है उसीकी प्राप्तिके लिये सामायिकादि धर्मकृत्य करनेके लिये शास्त्रकारोंने फरमाया है। सामायिकका फल तथा उसका लक्षण भी प्रतिपादन किया है। जो स्वयं आत्महितमें उद्यमवान् रहे उसीका नाम साधु है। और उनका अधिपति श्रीआचार्य कहा जाता है उनके जो छत्तीस गुण हैं वे भी इसमें दर्ज हैं। तथा साधुके सत्ताईस गुण भी इस ग्रंथमें लिख दिये हैं। जो श्रद्धापूर्वक तत्वोंका श्रवण करे तथा देश-थकी व्रतोंकी पालना करे उसको श्रावक कहते हैं और उनके २१ गुणोंका भी वर्णन भले प्रकारसे किया है। जिन्होंने स्वयं आत्मिक बलसे रागद्वेषरूपी सुभटोंका पराजय कर आत्मिक गुण केवलज्ञानकी प्राप्ति की है वे जिन कहलाते हैं और उनके कथित जो शास्त्र हैं वे आगम कहे जाते हैं। इत्यादि अनेक विषयोंसे भरपूर इस ग्रंथको बनाकर सूरीश्वरजीने जनसमूहपर महान् उपकार किया है। इस ग्रन्थका अनिश्चितनामधेय किसी परोपकारपरायण सद्गा-शयने गुजरातीमें अनुवाद भी प्रसिद्ध किया है।

न्यायाम्भोनिधि, कलिकालसर्वज्ञ, श्रीमद्विजयानन्दसूरि (श्री आत्मारामजी) महाराजके पट्टधर, शुद्धधर्मप्ररूपक, जैनाचार्य श्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरजी महाराज जो कि जैन मुनियोंमें एक अग्रगण्य महात्मा है तथा आपकी अध्यात्मदशा अलौकिक और परमादरणीय है और आपके सदुपदेशामृतसे जैन व जैनेतरोंमें जो जो स्वर्णाङ्कित कार्य हुए है वे सभी पृथ्वीतलपर विस्तृत है और आपकी प्रौढ विद्वत्ता तथा परम प्रतापसे आपकी मौजूदगी-में जिस२ स्थानपर अर्थात् पंजाबदेश गुजरानवाला आदि जैनेतर जैनाभासोंने अन्य विरोधियोंके बहकानेसे जो कुछ वाद-विवादका मामला उठाया था जिसमें जैनका जय और विरोधियों-का पराजय हुआ था ऐसे परमपूजनीय, प्रातःस्मरणीय, श्रीमान् आचार्यजी महाराजके शिष्य, सुप्रसिद्ध विद्वान्, जैनरत्न व्याख्यान-वाचस्पति, मुनिराज, श्रीगुरुवर्य्य श्रीलब्धिविजयजी महाराज जिन्होंने अपने प्रसिद्ध भाषणोंद्वारा उत्तमोत्तम कार्य कर जनसमूहका परमोपकार किया है ऐसे पूज्यात्माओंकी परम कृपासे मेरे गुरुभ्राताने प्रथम ही यह हिंदी-भाषान्तर करनेमें उद्यम किया है अतएव इस लघु कार्यमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह गई हो या जैनसिद्धान्त शैलीसे कुछ विरुद्ध लिखा गया हो तथा दृष्टिदोषसे और छापेकी गलतीसे किसी भी प्रकारकी अशुद्धता रह गई हो तो अनुवाद-ककी तरफसे=मिच्छामि दुक्कडं=

लेखक—

मुनि लक्ष्मविजय, खंभात बंदर ।

धन्यवाद ।

श्रीमान् माणिक मुनिजीकी तरफसे इस ग्रंथके भाषान्तर करनेमें मुझे बहुत सहायता मिली है इस लिये–
तथा प्रतापगढ मालवाके श्रेष्ठिवर्य्य श्रीयुक्त लक्ष्मीचन्द्रजी घीया, प्रान्तिक कान्फ्रेंसके सेक्रेटरीके परम मित्र श्रीयुक्त मगकलालजी रातडियाने इस पुस्तकको शुद्ध लिपिमें धर्मार्थ लिखा है अतएव इन पूर्वोक्त महाशयोंको धन्यवाद देनेमें आता है।

भाषान्तरकर्ता ।

पुस्तक मिलनेका स्थान–

(१) श्रीआत्मालब्धिजैनलाइब्रेरी–मेरठ तहसीलके पास (२) लाला नाथूरामजी जैनी-जीरा जिला फीरोजपुर–पंजाब. (३) बाबू चेतनदासजी जैनी-चुटीसराय-मुल्तान सिटी (४) श्रीआत्मानंदजैनसभा-भावनगर सिटी

(प्रसिद्धकर्त्ता)

॥ श्री ॥

॥ वन्दे वीरम् ॥

(श्री मद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः)

॥ संबोध सत्तरि ॥

(आर्यावृत्तम्)

नमिऊण तिलोअगुरूं, लोआलोअप्पयासयं वीरं ।
संबोह सत्तरि-महं, रएमि उद्धार गाहाहि ॥१॥

(आत्मानंद करं विभुं गुरुवरं वीरं समाधि प्रदं,
नत्वा सौख्यकरं तथैव कमलं ज्ञानाब्धि सूरीश्वरम्ः
स्तुत्वा लब्धि महो निशं ममगुरुं संबोध दां सत्तरिं,
कुर्वे हिन्दी सुभाषया गुण करां भव्यात्मनां शान्तये ॥१॥

स्वर्ग, मृत्यु और पातालरूप तीन लोकके गुरू और लोकालोकके प्रकाशक ऐसे श्रीमन्महावीर स्वामीको नमस्कार करके सूत्रोंसे प्राकृत गाथाएं उद्धृत कर मैं यह संबोध सत्तरि नामक पुस्तक सर्व साधारणके लाभार्थ रचता हूँ ॥१॥

सेयंवरो य आसं, बरो य बुद्धो अ अहव अन्नो वा ।
समभावभावि अप्पा, लहेइ मुक्खं न सन्देहो ॥२॥

चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, चाहे बौद्ध हो या अन्य कोई मतावलम्बी, परंतु जिसकी आत्मा समभावमें भावित हो चुकी हो, उसको मोक्षपद प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२॥

देव, धर्म और गुरुका स्वरूप।

अट्टदस दोस रहिओ, देवो धम्मोवि निउणदय सहिओ।
सुगुरूवि बंभ यारी, आरंभ परिग्गहा विरओ ॥ ३॥

अठारह दूषणोंसे रहितको देव समझना, और पूर्ण दयायुक्त धर्म जानना, और इसी तरह ब्रह्मचारी, आरंभ सारंभ और परिग्रह-से जो विरक्त हो उसे सुगुरु समजना चाहिए। अब देवमें न होने-वाले अठारह दूषण बतलाते हैं, जिनके नष्ट होनेसेही देवपद प्राप्त होता है॥ ३॥

अन्नाण कोह मय माण, लोह माया रईय अरईय।
निद्दा सोअ अलिय वयण, चोरिआ मच्छर भया य॥४॥
पाणीवह पेम कीलापसंग, हासा यजस्स ए दोसा।
अट्टार सवि पणट्टा, नमामि देवाहि देवंतं॥ ५॥

अज्ञान १ क्रोध २ मद ३ मान ४ लोभ ५ माया (फरेब) ६ रति ७ अरति ८ निद्रा ९ शोक १० असत्य वचन ११ चोरी १२ मत्सर (ईर्ष्या) १३ भय १४ प्राणीवध (हिंसा) १५ प्रेम १६ क्रीडा प्रसंग १७ और हास्य १८ यह अठारह दूषण जिसके बिल्कुल नष्ट हो गए हैं, उन देवाधिदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥५॥

धर्मका स्वरूप ।

सव्वा ओवि नईओ, कमेण जह सायरंमि निवडंति ।
तह भगवई अहिंसिं, सव्वे धम्मा समिल्लंति ॥ ६ ॥

जिस तरह सब नदियें समुद्रमें जा मिलती हैं, उसी तरह अहिंसा देवीकी गोदमें सब धर्म आ बैठते हैं ॥६॥

गुरूका स्वरूप ॥

मसरी रेवि निरीहा, बज्झब्भितरपरिग्गह विमुक्का ।
धम्मो विगरण मित्तं, धरंत्ति चारित्तर खवट्ठा ॥७॥
पंचिंदिय दमण परा, जिणुत्तसिद्धंत गाहियं परमत्था ।
पंच समिया तिगुत्ता, सरणं मह एरिसा गुरुणो ॥८॥

अपने शरीरसे भी ममता रहित, बाह्य धनादिक और अभ्यंतर (क्रोद्धादि) परिग्रहसे विमुक्त हुये, चारित्रकी रक्षाके लिये केवल धर्मोपकरण (वस्त्र पात्रादि) को धारण करनेवाले, पांच इन्द्रियोंके दमन करनेमें तत्पर, जिन्होंने जिन कथित सिद्धान्तके परमार्थको स्वीकार किया है, और पंच समितिको पालन करनेवाले और तीन गुप्तिके गुप्ता (मन वचन कायाको रोकनेवाले) ऐसे गुरु महाराजका मुझको शरण प्राप्त हो ॥७॥८॥

कुगुरुका स्वरूप ।

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो ॥
अहछंदोवि य ए ए, अवंदणिज्जा जिण मयंमि ॥९॥

१ पासत्थो (शिथिल) कुशील (दुराचारी) आसन्नो (... प्रमाद करनेवाला) संसक्त (त्यागियोंमे त्यागी हो जाय और योंमें भोगी) यथासन्द (गुरु महाराजकी आज्ञासे बाहर) यह जैन मतके अनुसार अवंदनीय हैं अर्थात इनको वन्दना करनी योग्य नहीं ॥ ९ ॥

कु(त्याज्य)गुरुको वंदन करनेका परिणाम।

पासत्थाइ वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होई ।
जायइ कायकिलेसो, वंधो कम्मस्स आणाई ॥१०॥

पहिलें जिनके नाम बतलाए हैं ऐसे पासत्थ आदिको वंदन करना निष्फल है क्योंकि ऐसोंको वन्दन करनेसे न तो कीर्ति और न निर्जरा (कर्म क्षय) होती है । किन्तु कायक्लेश उत्पन्न होता है । और दुराचारीको वन्दन करनेसे अष्ट प्रकारके कर्मोंका बंधन होता है और साथ ही जिनाज्ञाका भंग भी होता है इत्यादि ॥१०॥

पासत्थादिमें जो २ मनुष्य ब्रह्मचर्य्यसे रहित तथा विलासको चाहनेवाले हैं उनको नमस्कार करनेसे पूर्वोक्त कथनानुसार नमस्कार करनेवालेको तो हानि होती ही है परन्तु नमस्कार करानेवाले (त्याज्य गुरु—छोड़ देने योग्य) गुरुको क्या हानि होती है सो शास्त्रकार अब दिखलाते हैं ॥१०॥

जे बंभचेर भट्ठा, पाए पाडंति बभयारीणं ।
ते हुंति टुंटमुंटा, बोहिवि सुदुल्लहा तेसिं ॥ ११ ॥

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यसे पतित होकर अपने आपको ब्र॰ मनुष्यसे नमस्कार कराते हैं वे दूसरे जन्ममें लूले लंगड़े होते हैं

उनके लिए सम्यक्त्वका प्राप्त होना भी अत्यन्त कठीन हो जाता है ॥ ११ ॥

दंसण भट्ठो भट्ठो, दंसण भठस्स नत्थि निवाणं ।
सिज्झंति चरण रहिआ, दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥१२॥

दर्शन (सम्यक्त्व)से जो भ्रष्ट है वह भ्रष्ट कहलाता है तथा दर्शनभ्रष्टको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि द्रव्य (चारित्र)से रहित मोक्षपदको प्राप्त करता है लेकिन सम्यक्त्वहीन मोक्षपदको प्राप्त नहीं कर सक्ता ॥ १२ ॥

अब श्री जिनेश्वर देवकी आज्ञाका उल्लंघन करना इस विषयमें कहते हैं ।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेई ।
आणाइ अइक्कंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥१३॥

जो श्री तीर्थंकर देवके समान प्रभाविक आचार्य हैं और भगवानके कहे हुए सिद्धान्तोंका भली प्रकारसे सर्वत्र प्रचार करते हैं लेकिन स्वयम् उनकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं तो उनको दुष्ट पुरुष समझना न कि सत्यपुरुष ॥१३॥

जह लोहसिला अप्पंपि बोलए तह विलग्गपुरिसंपि ।
इय सारंभो य गुरू, परमप्पाणं च बोलेई ॥१४॥

जिस प्रकार (लोह युक्त) शिला स्वयम् डूबती है और उसको पकडनेवाले भी डूबजाते है इसी तरह आरंभी सारंभी (गृहस्थोंकीतरह सांसारिक कार्योंको करने वाला) गुरु अपने आपको डूबाताहै और साथमें सेवकोंको भी ॥१४॥

किइ कम्मं च पसंसा, सुहसीलजणंमि कम्म बंधाय ।
जे जे परमायठाणा, ते ते उववूहिया हुंति ॥१५॥

(अनुष्टुय वृत्तम्)

एवं णाऊण संसग्गिं, दंसणालावसंथवं ।
संवासं च हिया कंखी, सव्वो वाणहिं वज्जए ॥१६॥

सांसारिक सुखोंकी इच्छा करनेवाले भ्रष्टाचारी गुरुको द्वादशावर्त्तनवन्दन (प्रतिक्रमणमें जो गुरु वन्दन कीयी जाती है) और प्रशंसा करेतो कर्म बंधका हेतू है । और इस प्रकार उनका मान करनेसे वो अधिक प्रमादी होजाते हैं ।उस पापकी वृद्धि करनेवाला वोही वन्दन–प्रशंसा करनेवाला पुरुष माना जायगा सो भव्यात्माओं (आत्माको सुधारने वाले मनुष्यों)को उचित है कि पासत्यादिक (ढिले पसत्थे) कुगुरुओंका संबंध व दर्शन तथा उनके साथ आलाप संलाप (वातचित) स्तुति सहवासादि बातोंसे दूर रहे ॥१५॥१६॥

अब जो मनुष्य चारित्रको ग्रहण करके फिर उसको त्यागनेका विचार करे उसे शास्त्रकार ऐसे कहते हैं।

(आर्यावृत्तम्)

अहिगिलइ गलइ उअरं, अहवा पच्चुग्गलंति नयणाइं ।
हाविं समा कज्जगई, अहिणा छच्छुंदरि गहिज्जा ॥१७॥

चारित्र ग्रहण करनेके पश्चात् जिसके चारित्रमें शिथिलता हो जाती है उसके लिये " सर्पने छछुंदर " पकडा सो न्याय होता है क्योंकि सर्प यदि छछुंदरको मुंहमें पकडनेके बाद निगल जाए तो कुष्टी हो जाता है और यदि उगल दे तो अन्धा हो जाता है इसी तरह साधु भी दुःखित हो जाता हैं ॥ १७ ॥

अब ऐसे शिथिल परिणामवालोंको स्थिर रखनेके लिए चारित्र धर्मका विशेष प्रकारसे सर्वोत्कृष्ट-पना बतलाते है-

को चक्कवट्टि रिद्धिं, चउं दासत्तणं समभिलसई ।
को व रयणाइं मुत्तुं, परिगिन्हइ उवलखंडाई ॥१८॥

चक्रवर्तीकी ऋद्धि छोडकर दास होनेकी अभिलाषा कौन कर सक्ता है ? क्योंकि रत्नको छोड़कर पाषाणके टूकड़ेको सिवाय मुर्खके (जो लाभालाभके विचारसे शून्य है) कोई ग्रहण नहीं करता ॥१८॥

अब प्राप्त किया हुआ जो दुःख है वह नष्ट कैसे हो सक्ता है सो शास्त्रकार दृष्टान्तपूर्वक भव्यात्मा-ओंको समझाते हैं-

नेरइकाणवि दुक्खं, जिज्झइ कालेण किं पुणनराणं ।
ता न चिरं तुह होई, दुक्ख मिणं मा समुब्वियसु ॥१९॥

नर्कके जीवोंको जो कष्ट है वह भी समयान्तर पर नाश होता है ! तो मनुष्यके लिए तो कहना ही क्या ! ! इसलिए मुझको भी यह दु.ख चिरकाल तक नहीं रहेगा । अतः हृदयके अन्दर तूं खेद मत कर ॥१९॥

परम पवित्र चारित्रको ग्रहण करके त्याग देना बहुत ही बुरा है इस बातको दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं ।

वरं अग्गिमि पवेसो, वरं विसुद्धेणकम्मणा मरणं ।
मा गहियव्वय भंगो, मा जीअं खलिअसीलस्स ॥२०॥

अग्निके अन्दर प्रवेश करना अच्छा है और विशुद्ध भावसे अणसण (चार प्रकारके आहारका त्याग) कर शरीरके मोहको छोडदेना अच्छा है परन्तु ग्रहण कियेहुए व्रतोंका भंग करना अच्छा नही है और जो मनुष्य ब्रह्मचर्यका भंग करता है उसके लिए संसारमें जीनाभी बहुत बुरा है ॥ २० ॥

अब प्रसंगोपात धर्म श्रद्धामें दृढता करनेके लिए सम्यक्त्वका स्वरूप और उसकी दुर्लभता और फल बतलाता हैं ।

अरिहं देवो गुणो, सुसाहुणो जिणमयं मह पमाणं ।
इच्चार सुहो भावो, सम्मत्तं विंति जगगुरुणो ॥ २१ ॥

श्री अरिहन्त देव, सुसाधु गुरु और जैनशासन ही मुझे मंजूर है इत्यादि शुद्ध भावको जगद्गुरु श्री तीर्थंकर महाराज सम्यक्त्व कहते हैं और ऐसे भाववालेको ही सम्यक्त्वी जीव कहते हैं ॥२१॥

सम्यक्त्वकी दुर्लभता ॥

लब्भइ सुरसामित्तं, लब्भइ पहुअत्तणं न सन्देहो ।
एगं नंविह न लाभइ, दुल्लहरयणं च सम्मत्तं ॥ २२ ॥

देवोंका अधिपतत्व (स्वामीत्व) प्राप्त करना और प्रभुता (ऐश्वर्यता ठकुराइपना)का मिलना कोई बडी बात नहीं, परंतु विशेष विचार करनेसे एक दुर्लभ चिन्तामणी रत्न के सदृश्य सम्यक्त्वको प्राप्त करना जीवोंके लिए बड़ाही कठीन है ॥ २२ ॥

सम्यकत्वका फल।

सम्मत्तंमि उलद्धे, विमाणवज्जं न वंधए आउं।
जइवि न सम्मत्तजडो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं ॥२३॥

सम्यत्त्व के प्राप्त करनेसे जीव वैमानिक देवका आयुष्य वंधन करता है। यदि वह सम्यत्त्वसे पतित न हुआ हो ओर सम्यत्त्व प्राप्तिसे पूर्व कोइ अन्यगतिका उसने आयुष्य बन्दन न किया हो ॥२६॥

सामायिकका फल।

(अर्थात् दो घडी तक संभाव धारण करनेका फल वतलाते हैं)

दिवसे दिवसे लख्खं, देइ सुवन्नस खंडियं, एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स ॥ २४ ॥

एक पुरूष प्रति दिन लक्ष २ पासे सोनेके दान देता है और एक धर्माभिलाषी पुरुष सामायिक करता है, यहाँपर सामायिक करनेवालेकी तुलना सोनेके पांसोंका दान देनेवाला पुरुष कदापि नहीं कर सक्ता, अर्थात् सामायिकका फल विशेष है ॥२४॥

सामायिकमें स्थित पुरुष कैसा होना चाहिए?

निंदपसंसासु समो, समो अ माणावमाणाकारीसु।
समयसणपरियमणो, सामाइयसंगओ जीवो ॥ २५ ॥

निन्दा तथा प्रशंमामें, मान और अपमानमें, स्वजन तथा परजनमें, जिसका समानभाव है उसको सामायिक स्थित पुरुष कहना चाहिए ॥ २५ ॥

निरर्थक सामायिकका लक्षण ।

सामाइयं तु काउं, गिहिकज्जं जोवि चिंतए सड्ढो ।
अट्टव सट्टो वगओ, निरत्थयं तस्स सामाइयं ॥ २६ ॥

जो कोई श्रावक सामायिक करते हुए सांसारिक कार्य्योंका विचार करे और आर्त्त, रौद्रध्यानके वश हो जाय तो उसकी सामायिक निरर्थक है ॥ २६ ॥

श्री आचार्य्य महाराजके छत्तिस गुण ।

पडिरूवाइ चउदस, खंतीमाई ये दसविहो धम्मो ।
वारस ये भावणाओ, सूरिगुणा हुंति छत्तीसं ॥ २७ ॥

प्रतिरूप १ तेजस्वी २ युगप्रधान (सर्व आगमके जानकार अर्थात् सर्व शास्त्रोंके ज्ञाता) ३ मधुर वचन वाले गंभीर ५ धैर्यवान ६ उपदेशमें तत्पर और श्रेष्ठ आचार वाले ७ प्रवल धारणा शक्तिवाले ८ सौम्य ९ संग्रह शील १० अभिग्रहमाति वाले ११ विकथाको नहीं करने वाले १२ अचपल १३ और प्रशांत हृदयवाले १४ यह प्रतिरूपादिक चौदहगुण और क्षमा १ आर्जव २ मार्दव ३ मुक्ति ४ तप ५ संयम ६ सत्य ७ शौच ८ अकिंचन ९ ब्रह्मचर्य १० यह क्षमादिक दस प्रकारका यति धर्म और अनित्य १ अशरण २ संसार ३ एकत्त्व ४ अन्यत्व ५ अशुचि ६ आश्रव ७ संवर ८ निर्ज्जरा ९ लोकस्वरूप १० बोधिदुर्लभ ११ और धर्म १२ यह वारह भावना, इस प्रकार सुरीश्वर महाराज के छत्तिस गुण होते है ॥२७॥

साधु मुनिराजके सत्ताइस गुण ॥

छव्वय छक्कायरक्खा, पंचिंदियलोहनिग्गहो खंती ।
भावविसुद्धि पडिले, हणाय करणे विसुद्धि य ॥२९॥
संजम जोइ जुत्तो, अकुसल मणावयणकायसंरोहो ।
सीयापीड सहणं, मरणं उवसग्गसहणं च ॥२९॥

प्राणातिपात १ मृषावाद २ अदत्तादान ३ मैथून ४ परिग्रह ५ और रात्री भोजन ६ इन छ. बातोंका त्याग करना, पृथ्वीकाय १ अप २ तेऊ ३ वायु ४ वनस्पति ५ और त्रसकाय ६ इन छः कायोंकि रक्षा करनी, स्पर्शेन्द्रिय १ रसेन्द्रिय २ घ्राणेन्द्रिय ३ चक्षुरेन्द्रिय ४ और श्रोत्रेन्द्रिय ५ इन पांच इन्द्रियोंको वश करना, लोभका जीतना १८ क्षमा १९ भावकी विशुद्धि २० पडिलेहणा करनेमें विशुद्धि २१ संयमयोय युक्त रहना २२ अकुशल मन २३ अकुशल वचन २४ अकुशल कायाका सरोध (रोकना) २५ शीतादिक पीडाका सहन २६ मरणान्तोपसर्ग (मरणान्त कष्टको सहन करना) २७ यह सत्ताइस गुण मुनि महाराजके हैं ॥२८॥२९॥

सत्तावीसगुणोहिं, एएहिं जो विभूसिओ साहू ।
तं पणमिज्जइ भत्ति भ्भरेण हियएण रे जीव ॥३०॥

पूर्वोक्त सताइस गुणों करके युक्त जो मुनि निर्मल चारित्रका पालन करते हैं या जो मुनिराज उक्त गुणोंसे विभूषित हैं उनको हे आत्मन्! तूं प्रतिदिन शुभ भाव अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार कर ॥ ३० ॥

श्रावकके इक्किस गुण ।

(धर्मरत्नके योग्य जो श्रावक इन २१ गुणों करके युक्त हो उन २१ गुणोंको शास्त्रकार दर्शाते हैं ।)

धम्मरयणस्स जुग्गो, अक्खुद्दो रूवव पगइ सोमो ।
लोगप्पिओ अक्रूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥३१॥
लज्जालू अ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी ॥
सक्कह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नु ॥३२॥
वुड्ढाणूगो विणिओ, कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ ।
तहचेव लद्ध लक्खो, इगवीसगुणोऽहवइ सड्ढो ॥३३॥

अक्षुद्र (उदार चित्त) १ रूपवंत २ प्रकृतिसे सौम्य ४ अक्रुर ५ भीरू (पापसे हटनेवाला) ६ अशठ (दुर्जनतासे रहित) ७ सुदाक्षन्य-वान (दूसरेके कामको कर देनेवाला) ८ लज्जालु ९ मध्यस्थ (सौम्य दृष्टि) १० गुणानुरागी ११ सत्कथ १२ सुपक्षयुक्त १३ सुदीर्घदर्शी १४ विशेषज्ञ १५ वृद्धानुग (वडोकी मर्यादामें चलने वाला) १६ विनीत १७ कृतज्ञ १८ परहितार्थकारी १९ लब्ध लक्ष २० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३॥

॥ जिनागमका महत्व ॥

(अनुष्टुब वृत्तम्)

कत्थ अम्हारिसा पाणी, दूसमा दोस दूसिआ ।
हा अणाहा कहं हुंता, न हुंतो जइ जिणागमो ॥३४॥

दूषम कालके दोष करके दूषित, ऐसे हमारे जैसे मनुष्योंकी यदि जिनागम न होतेतो क्या दशा होती अर्थात स्वामी रहित को इस पंचमकालमें जिनागमकाही आधार है ॥३४ ॥

॥ आगमके आदर करनेमें समाया हुआ तात्पर्य ॥

आगमं आयरंतेणं, अत्तणो हियकांखिणो
तित्थनाहो गुरू धम्मो, सेव्व ते वहुमन्निया ॥३५॥

आगमके अर्थात् आगमके रहस्यको आचरते हुए आत्माके हितेच्छुओंको तीर्थनाथ श्री अरिहन्त भगवन्त, तथा सद्गुरु महाराज और श्री केवली महाराजका प्ररूपित धर्म यह सब बहुत माननीय हैं। वि० अज्ञानवश जो हम पाप करते हैं उन पापोंसे बचानेवाले श्री वीतराग देवके अभावमें बोध देनेवाले केवल जिनागम समर्थ हैं ।३५।

॥ कैसे संघको संघ नहीं कहना ॥

(आर्यावृत्तम्.)

मुहसीलाओ सच्छंद चारिणो वेरिणो सिव पहस्स ॥
आणा भट्टाओ वहुजणाओ मा भणह संघुत्ति ॥ ३६ ॥

श्री गौतम स्वामीजीको श्रीमन्महावीर स्वामी फरमाते हैं कि हे गौतम ! सुखशीलिये अर्थात् सासारिक सुखोंमें स्थापन किये हैं, अपने आत्माको जिन्होंने, ऐसे स्वच्छन्दाचारी (मरजी मुताबिक चलने वाले) तथा मोक्ष मार्गके वैरी और जिज्ञासे भ्रष्ट, ऐसे वहुतसे मनुष्य हों तो भी उनको संघ नहीं कहना चाहिए ॥ ३६ ॥

कैसे संघको संघ कहेना ॥

एगो साहू एगा, य साहुणी साव ओवि सड्ढी वा ।
आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठी संघाओ ॥ ३७ ॥

एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक, एक श्राविका हो यह चारों मिलकर जिनाज्ञाका पालन करते हों, उनके समुदादायको संघ कहना चाहिए और जो जिनाज्ञासे बाहिर हैं, उनके समुदायको संघ नहीं मानना किन्तु अस्थियोंका समुदाय समझना चाहिए।

वि० थोडासा समुदाय वीतरागकी आज्ञामें चलता है तो भी वह माननीय है लेकिन वीतरागकी आज्ञासे बाहिर चलता हो ऐसा बहुत समुदाय हो तो भी उसके अप्रमाणिक होनेसे मानने योग्य नहीं कहा जाता ॥ ३७ ॥

संघका लक्षण ॥

निम्मलनाणपहाणो, दंसणजुत्तो चरित्तगुणवंतो ।
तित्थयराण य पुज्जो, वुच्चइ एयारिसो संघो ॥ ३८ ॥

निर्मल ज्ञानकी प्रधानता जिनके अन्दर है और दर्शन सम्यक्त्व करके युक्त और चारीत्रके गुणोंसे अलंकृत ऐसा जो संघ है वह श्री तीर्थंकर भगवानको भी पूज्य है। ऐसे गुणवानको ही संघ कहना चाहिए ॥३८॥

जिनाज्ञाकी मुख्यता ॥

जहतुसखंडण मयमंडणाइ रुण्णाइ सुन्नरन्नमि ।
विहलाई तहजाणसु, आणारहियं अणुठाणं ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार छिल्कोकों कूटना मूर्दोकों अलंकृत करना और शून्य जंगलमें रोना यह सब निष्फल है, वैसे हीं वीतरागकी आज्ञा रहित क्रियाकांड अनुष्ठानादिक भी निष्फल हैं ॥३९॥

आणाइ तवो आणाइ संजमो तह य दाणमाणाए ।
आणारहिओ धम्मो, पलाल पुल्लूव पडिहाई ॥४०॥

आज्ञानुसार जप, तप, चारित्र और दान करना उचित है क्योंकि आज्ञा रहित जो धर्मध्यान करता है वह घासके समुदायके माफीक शोभाको प्राप्त नहीं होता है ॥४०॥

आज्ञा रहित कीयी हुई क्रिया निरर्थक है ।

आणा खंडणाकारी, जइवि तिकाल महा विभूईए ।
पूएइ वीयरायं, सव्वंपि निरत्थयं तस्स ॥ ४१ ॥

श्री वीतरागकी आज्ञाका भग करनेवाला पुरुष जो के बड़ी सम्पदा करके युक्त तीन काल तक श्री वीतराग देवकी पूजा करे तो भी वह सर्व क्रिया, जिसकी पूजा करता है, उनकी आज्ञाके बाहिर होनेसे निरर्थक है ॥ ४१ ॥

रन्नो आणाभंगे, इक्कुच्चि य होइ निग्गहो लोए ।
सव्वन्नुआणभंगे, अणंतसो निग्गहो होई ॥ ४२ ॥

इस संसारमें राजाकी आज्ञा भंग करनेसे एक ही वक्त निग्रह (दंड) होता है लेकिन सर्वज्ञकी आज्ञाका भग करनेसे अनेकवार जन्मान्तरोंमें रुलना पडता है और छेदन भेदन, जन्ममरण, रोग, शोक आदि अनेक यातनाएं (तकलीव) सहन करनी पडती हैं ॥४२॥

विधियुक्त व विधिरहित किये हुए धर्मका अंतर।

जह भोयणमविहिकयं, विणासए विहिकयं जियावेई ।
तह अविहिकओ धम्मो, देइ भव विहिकओ मुक्खं ॥४३॥

विधिसे और अविधिसे किये हुए धर्ममें अन्तर है। जैसे अविधिसे किया हुआ भोजन शरीरका नाश करता है और विधिसे किया हुआ भोजन शरीरकी रक्षा करता है, वैसे हीं अविधिसे किया हुआ धर्म संसारमें भ्रमण कराता है और विधिसे किया हुआ धर्म मोक्ष पदका दाता है ॥ ४३ ॥

द्रव्यस्तव और भावस्तवका अन्तर कहते हैं।

मेरुस्स सरिवस्स य, जित्तिय।मित्तं तु अंतरं होई।
दव्वत्थय भावत्थय, अंतरमिह तित्तियं नेयं ॥ ४४ ॥

मेरू पर्वत और सरसवमें जितना अन्तर है उतनाही अन्तर द्रव्यस्तव और भावस्तवमें यहाँ जानना।

विना समझ ओर अन्तरंग अभिलाषाके जो वीतरागका गुणानुमोदन करना है उसको 'द्रव्यस्तव' कहते हैं ओर उसका फल बहुतही अल्प है। समझकर भावसे गुणनुवाद करना उसको 'भावस्तव' कहते हैं, उसका फल वेशुमार है। इसका अर्थ और तरहसे भी होता है कि गृहस्थोंका द्रव्यस्तवका फल अल्प है और साधुओंका भावस्तवका फल बहुत बढकर है सो अगली गाथामे देखो ॥४४॥

द्रव्यस्तव और भावस्तवका उत्कृष्ट फल।

उक्कोस दव्वत्थयं, आराहिय जाय अच्चुयं जाव।
भावत्थएण पावइ, अंत मुहुत्तेण निव्वाणं ॥४५॥

द्रव्यस्तवका आराधक उत्कृष्ट। अच्युतनामा बारहवे देवलोक तक जाय और भावस्तव करके अन्तर मुहुर्त्तमें निर्वाणपद प्राप्त करता

है । वि० जिनेश्वर देवके मन्दिरमें द्रव्य पूजामें लाखों रुपैये खर्च कर जैनशासनकी महिमाको बढानेवाला भव्यात्मा श्रावक उत्कृष्टा बारहवें देवलोक तक जाता हैं । लेकिन निर्ग्रंथ साधु सिर्फ भगवान की आज्ञानुसार संयम पालनेवाला और भगवानके गुणोंको गाता हुआ अध्यात्म दशामें निमग्न होकर अल्प कालमें केवलज्ञानको धारण कर मोक्षपदको प्राप्त करता है । परन्तु मूर्त्तिपूजामें दृढ श्रद्धानका होना अत्यन्त आवश्यक है ॥४५॥

कैसे गच्छको त्याग करना—छोडना चाहिए? ॥

जत्थ य मुणिणो कयविक्क याइ कुव्वंति निच्चभट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर, विसंव दूर परिहरिज्जा ॥४६॥

जिस गच्छमें मुनि हमेशा भ्रष्टाचारी रहते हैं और क्रय विक्रयादि करते हैं, उस गच्छको हे गुणसागर ! जहरकी तरह छोड़ दो ! वि० जो साधुके भेषमें रहकर गृहस्थोंकी तरह द्रव्य संग्रह करके व्यापारादिक करते हैं और दुराचारका सेवन करते हैं वैसे आरंभ परिग्रहमें लिप्त साधुओंको छोडकर त्यागी सुशील साधुओंकी सोबतमें रहना चाहिए । क्योंकी भ्रष्टाचारी विष तुल्य है ॥४६॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमाइय विविहमुवगरणं ।
पडि भुंजइ साहू हिं, तं गोयम कारिसं गच्छं ॥४७॥

जिस गच्छमें साध्वीके लाए हुए वस्त्र पात्रादि उपकरणोंको साधु भोगमें लेते हैं, हे गौतम ! वह गच्छ निकम्मा ही नहीं वरन सर्वथा छोड़ देने योग्य है ।

वि० मोक्षाभिलाषी साधुओंको साध्वियोंका विशेष परिचय रहनेसे सयममें मलिनता पैदा होती है । इसलिए उत्तम साधुओंको साध्वियोंका विशेष परिचय नहीं चाहिए । और उनकी लाई हुई चीजोंको कदापि ग्रहण करना नहीं चाहिए ॥ ४७ ॥

जहिं नत्थि सारणा वारणा य पडिचायणा यगच्छंमि ।
सो अ अगच्छो गच्छो, संजमकामीहि मुत्तव्वो ॥ ४८ ॥

जिस गच्छमें ' सारण ' ' वारणा ' च शब्दसे ' चायणा ' और ' पडिचोयणा ' नही होती है, वह गच्छ अगच्छ समान है । इसलिए संयमके वांछक मुनियोंको वह गच्छ त्याग देना चाहिए ।

वि. शिष्योंको पढाना, भूले हुएको सुधारना, प्रमादिको जागृत करना, ज्यादह प्रमादीको समय२ पर सुमार्गमें लाना यह वड़ोंकी फ़र्ज़ है । जिस समुदायमें वड़े होकर, शिष्योंको सुधारते नहीं उस समुदायमें विशेष लाभ नहीं होता । अतएव उस गच्छको त्यागना ही उचित है ॥ ४८ ॥

गच्छकी उपेक्षा करने और पालन करनेका फल ।

गच्छं तु उवेहंतो, कुव्वइ दीहंभवे विहीएओ ।
पालंतो पुण सिज्झइ, तइअ भवे भगवई सिद्धं ॥४९॥

गच्छकी उपेक्षा करे तो दीर्घ (वहुत) भव करे और विधि-पूर्वक पालन करे तो तीसरे भवमें मोक्षपद प्राप्त करे । ऐसा श्री भगवतिजी सूत्रमें साफ कहा है ।

वि. साधु समुदायको सद्बोध देनेमें ख्याल न रखे और अच्छे रास्तेपर न लावे तो साधुओंकी दशा विगड़ जाती है ।

पाप प्रवर्त्तकको लगता है, जिससे प्रवर्त्तकको भवभ्रमण करने पडते हैं। और जो प्रवर्त्तक शिष्योंका पालन कर सुमार्गमें लाता है वह बहुत निर्जराको प्राप्त कर तीसरे भवमें मुक्तिको प्राप्त करता है ऐसा श्री भगवतिजीमे कहा है ॥४९॥

जत्थ हिरन्नसुवन्नं, हत्थेणपराणगंपि नो छिप्पे।
कारणसमापियंपि हु गोयं गच्छ तयं भणियं ॥५०॥

जिस गच्छमें मुनिलोक कारणसे देने पर भी पराए द्रव्य और सुवर्णको हाथ भी नहीं लगाते ऐसे गच्छको गच्छ कहना उचित है।

वि- धनवान सेवक या राजा होकर परमगुरूको उपकारके बदले में "चादी, सोना" या और कोइ धनादि देवे तो भी मोक्षाभिलाषी मुनि उसे बिल्कुल ग्रहण न करे, वही त्यागी मुनियोंका गच्छ यथार्थ गच्छकी तुलनामें है ॥ ५० ॥

पुढविदगअगणिमारुअवणस्सइ तह तसाण विविहाणं।
मरणंतेवि न पीडा, कीरइ मणसा तयं गच्छं ॥५१॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और अनेक प्रकारके त्रस जीवोंको अपने मरनेतक भी मनसे नहीं मारते और बचाने में तत्पर रहते हैं।

वि. मनवचन, कायासे त्रस, स्थावरका रक्षण करे, कारण पडे तो स्वयम् मरणान्त कष्टको सहन करे, लेकिन दूसरे जीवोंको न मारे—न पिडे, ऐसे गच्छको गच्छ कहते है ॥५१॥

मूलगुणेहिं विमुक्कं, बहुगुणकलियंपि लद्धिसंपन्नं ।
उत्तंकुलेवि जायं, निद्धाडिज्जइ तयं गच्छं ॥५२॥

कोई भी मुनि दूसरे बहुतही गुणोंसे अलंकृत और लब्धि संपन्न हो तथा श्रेष्ठ कुलमें भी उत्पन्न हुआ हो, परन्तु वास्तविक गुणोंसे विमुक्त हो तो उसको स्वगच्छसे निकाल दे। उसका ही नाम गच्छ है।

वि० प्रमादी होकर जीवोंका घात करे, असत्य वचन बोले, चोरी करे, कुशील सेवे, परिग्रह रखे, ऐसे दुषणोंसे युक्त पुरुषोंमें और बहुतसे अच्छे गुण होवे तो भी, पूर्वोक्त दुर्गुणोंसे, मूल गुणोंके घातक होनेसे, उसको समुदायसे दूर कर देना चाहिए। तबही दूसरे साधुओंकी संयम रक्षा भली प्रकार हो सक्ती है और जिससे गच्छ भी पूजनीक होता है ॥५२॥

जत्थ य उसहादीणं, तित्थयराणं सुरिंद महियाणं ।
कम्मट्ठविमुक्काणं, आणं न खलिज्जइ स गच्छो ॥५३॥

जिस गच्छमें आठ कर्म रहित और सुरेन्द्र पूजित ऋषभादि तीर्थंकरोंकी आज्ञाके विरुद्ध बरताव नहीं होते उस गच्छको गच्छ समझना। अर्थात तीर्थंकरकी सर्व प्रकारदसे आज्ञा पालन करनेवाला गच्छ है ॥५३॥

जत्थ य अज्जाहिं समं, थेराावि न उल्लवंति गयदसणा ।
न य झायंतित्थीणं, अंगोवंगाइं तं गच्छं ॥५४॥

जिस गच्छके अन्दर, दांत जिनके गिरगये हैं ऐसे स्थिविर साधु भी साध्वीके साथ नहीं बोलते और स्त्रीके अंगोपांग भी नहीं देखते। बस, उसीका नाम गच्छ है।

वि० जिस गच्छमें अत्यंत वृद्ध होने पर भी साध्वियोंका परिचय नहीं रखते और स्त्रियोंके साथ आलाप संलाप न करते हुए अपने संयमकी आराधना करते हैं, और युवक साधु पर सुशील-ताकी छाप डालते हैं, ऐसे महात्माओंसे गच्छ महान यशको प्राप्त होता है ॥५४॥

वज्जेइ अप्पमत्ता, अज्जासंसग्गि अग्गि विससरिसी ।
अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्ति खु अचिरेण ॥५५॥

अप्रमत्त (अप्रमादी) मुनि महाराजोंको साध्वीका संग अग्नि और विषके वरावर है, उनको छोड देना अच्छा है क्योंकि साध्वीका अनुचर मुनि निश्चय ही थोड़े समयमेंअपकी र्त्तिको प्राप्त होता है ॥५५॥

शीलकी पुष्टि ।

जो देइ कणयकोडिं, अहवा कारेइ कणयजिणभवणं ।
तस्स न तत्तिय पुन्नं, जत्तिय बंभव्वए धरिए ॥५६॥

जो कोई पुरुष सुवर्णकी कोटी अर्थात् क्रोडों अशरफियों की किम्मतका सुवर्ण याचकोंको देवे अथवा कंचनका जिनभवन बनावे तो भी उसका उतना पुन्य नहीं होता है ॥५६॥

सीलं कुल आहारणं, सीलं रूवं च उत्तमं होई ।
सीलं चिय पंडित्तं, सीलं चिय निरुवमं धम्मं ॥ ५७ ॥

शील, कुलका आभूषण है; शीलही उत्तम रूप है । शीलही पांडित्य है, और शीलही निरुपम धर्म है ॥५७॥

दुष्ट मित्रको छोड़नेके लिए उपदेश।

(अनुष्टुब वृत्तम्)

वरं वाही वरं मच्चू, वरं दारिद्दसंगमो।
वरं अण्णवासो अ, मा कुमित्ताण संगमो ॥ ५८ ॥

व्याधि, मृत्यु और दरिद्रका संग और ऐसेही जंगलमें रहना यह सब अच्छा है, लेकिन दुष्ट मित्रोका संग अच्छा नहीं ॥५८॥

अगीयत्थ कुसीलेहिं, संगंतिविहेण वोसिरे।
मुख्खमग्गंसिमे विग्घं, पहंमि तेणगे, जहा ॥ ५९ ॥

अज्ञानी और कुशीलियोंका सग बिल्कुल छोडदेना चाहिए। क्योंकि रास्तेमें चोरोंकी तरह, वे मोक्षमार्गमे विघ्न डालते हैं- वि० द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे और शास्त्र रहस्यसे अज्ञात और दुराचारी साधुओंका सहवास अच्छा नहीं है। उनके बुरे चाल चलनसे अच्छे साधु भी बिगड जाते है। इसलिए चोरोंकी तरह कुसाधु मोक्ष मार्गमें विघ्न करनेवाले होते हैं ॥५९॥

अज्ञानी और कुशीलियोंको ऑखसे भी देखना बुरा है।

(आर्यावृत्तम्.)

उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं।
वावन्नदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसं दुट्ठं ॥६०॥

उन्मार्गकी देशना देनेसे श्री जिनेश्वर देवका कहा हुआ चारित्र नाश होता है। इसलिए जिसका सम्यक्त्व नष्ट होगया है ऐसे पुरुषको देखना भी बुरा है।

वि० वीतरागकी आज्ञासे विरुद्ध अगीतार्थ उपदेश करनेसे भव्यात्माओंके चारित्रमें हानि पहुँचती है (यहाँतककी सम्यत्क्वसे भी पतीत होता है) इसलिए ऐसोंका दर्शन करना भी अनुचित है ॥६०॥

चारित्र विमुखके सहवाससें दूर रहनेका उपदेश देते हैं।

परिवारपूअहेऊ, असन्नाणं च आणुवित्तीए ।
चरण करणंनिगूहई, तं दुलहबोहिअं जाणां ॥६१॥

परिवारकी पूजाके हेतू उसन्ना (चारित्रहीन) की आज्ञानुसार चले और चरणसित्तरी, करणसित्तरीको छुपाए उसको समकित दुर्लभ समझना ।

वि. चारित्रसे हीन है किन्तू पूजा जाता है, उसके सहवासमें रहनेसे मान होता है, लेकिन चारित्रमें प्रमादके बढनेसे " चरणा सित्तरी " " करणा सित्तरी " में हानी पहुँचती है ॥ ६१ ॥

उसन्नाकी सहायतासें चलनेसे अच्छे मुनिराजोंमें भी दूषण प्राप्त होते हैं सो दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं।

अंबस्स य निंबस्स य, दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गेण विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥६२॥

आम और नीम इन दोनोंकी जड़े परस्पर मिली हुई हों तो नीमके संसर्गसे आमका स्वभाव नष्ट होकर नीमके स्वभावको प्राप्त

हो जाता है । वि. इसीतरह चारित्रमें प्रमाद करनेवालेके सहवाससे अच्छा साधु भी प्रमादी हो जाता है ॥ ६२ ॥

पंक्कणकुले वसंतो, सउणी पारोवि गहहिओ होई ।
इय दंसण सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥६३॥

चंडाल (भंगी)के कुलमें निवास करनेवाला ज्योतिषी निन्दनीक होता है, इसीतरह शुद्ध ब्रह्मचारी भी कुशीलियोंकी सोबतमें रहनेसे जगतमें निन्दनिक हो जाता है ॥६३॥

॥ उत्तम पुरुषकी संगतसे होनेवाला लाभ ॥

उत्तम जण संसग्गी, सील दरिद्दंपि कुणइ ।
जह मेरुगिरिविलग्गं, तणंपि कणगत्तण मुवेई ॥६४॥

उत्तम पुरुषकी सद्संगति कुशीलियेको शीलवान बना देती है। जिसतरह मेरू पर्वतके साथ लगा हुआ घासका तृण भी सुवर्णमय वन जाता है । इस लिए अच्छे साधु मुनिराजोंकी सोबत करनी चाहिए ॥६४॥

मिथ्यात्व, महादोषको उत्पन्न करता है ।

नवि तं करेसी अग्गी, नेव विसं नेव किन्हसप्पो अ ।
जं कुणइ महादोसं, तिव्व जीवस्स मिच्छत्तं ॥ ६४ ॥

तिव्र मिथ्यात्व, आत्माको जितना दुखित करता है उतना दुखित अग्नि, विष (जहर) और काला सर्प भी नहीं करता.॥६५॥

मिथ्यात्वके होनेसे सब निरर्थक है ।

कट्ठं करेसि अप्पं, दमेसि अत्थं चयंसि धम्मत्थं ।
इक्कं न चयंसि मिच्छत्त- विसलवं जेणवुड्डिहसि ॥ ६६ ।

काष्टको सहन कर आत्माका दमन करता है और धर्मार्थ द्रव्यको त्याग करता है, फिर भी जहरके समान मिथ्यात्वको जो नहिं छोडती है तो पूर्वोक्त सभी वातें निरर्थक हैं। क्योंकि जीव मिथ्यात्वसे संसार समुद्रमें डूवता है ॥ ६६ ॥

यत्नाकी प्राधान्यता ।

जयणा य धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तववुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥६७॥

जयणा धर्मका मत्ता है, जयणा धर्मकी रक्षक है, जयणा तप की वृद्धि करनेवाली है और एकान्त सुखको देनेवाली भी जयणा ही है। वि. सम्यक् ज्ञानसे विचार करके जो क्रिया करते हैं उसको यतना (जयणा) कहते हैं और यत्नापूर्वक यत्न करनेसे "स्व" "पर" जीवों की रक्षा होती है और धर्मका पालन भी होता है ॥६७॥

कषायका फ़ल ।

जं अज्जिअं चरित्तं, देसूणाए अ पुव्वकोडीए ।
तं पुण कसाय मित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेणं ॥६८॥

कुछ कम पूर्व क्रोड वर्ष तक चारित्र पालन करनेसे जो चारित्रगुण पैदा होता है, उसको प्राणीमात्र कषायके उत्पन्न होनेसे एक क्षण भरमें हारजाता है।

वि. महाविदेह क्षेत्रमें और भरत क्षेत्रमें श्री ऋषभदेवजी के समयमें चौरासी लक्ष वर्षका एक पूर्वांग और चौरासी लक्ष पूर्वांगका एक पूर्व होता है ऐसा एक क्रोड पूर्वका आयुष्य होता

है । कोई भव्यात्मा पुरुष आठ वर्ष तक चारित्र पाले उससे जो गुण प्राप्त हो उन सब गुणोंको क्रोद्धादिक कषाय करनेवाला पुरुष क्षणभरमें नाश कर डालता है ॥६८॥

चारों कषायके दोषोंकों अलग २ बताते हैं।

(अनुष्टुब वृत्तम्)

कोहो पीई पणासेई, माणो विणयनासणो ।
माया पित्ताणि नासेई, लोहो सव्व विणासणो ॥ ६९ ॥

क्रोद्ध प्रीतिका नाश करता है, मान विनयका नाश करता है, माया मित्राईका नाश करती है, और लोभ सब (गुणों) चीजोंका नाश करता है। इसलिए चारो कषायोंको छोडनाही अच्छा है ॥६९॥

क्षमाके गुण ।

(आर्यावृत्तम्)

खंती सुहाण मूलं, मूलं धम्मस्स उत्तमा खंती ।
हरइ महा विज्जा इव, खंती दुरियाइं सव्वाइं ॥ ७० ॥

क्षमा सुखोंका मूल है । धर्मका मूल भी क्षमा ही है। महा विद्या (चमत्कारि) की तरह क्षमा सर्व दुरित (पाप) को दूर करती है ॥७०॥

पापी साधुका लक्षण ।

(अनुष्टुब् वृत्तम्)

सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहं च वावडे ।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणुत्ति वुच्चई ॥७१॥

अपना घर छोड़कर पराये घरोंको देखा करता है, दूसरेके ताईं ममत्वको धारण करता है और निमित्तसे व्यवसायोंको (ज्योतिष बतलाकर) करता है, उसको पापाश्रम कहते हैं ॥७१॥

दुद्ध दही विगईओ, आहारेई अभिक्खणं ।
न करेइ तवोकम्मं, पावसमणुत्ति वुच्चई ॥७२॥

' दूध ' ' दहीं ' घृतादि विगयों (वीर्यवर्धक पुष्ट पदार्थों) को पुनः२ खाता पीता है और तपश्चर्यादि कर्म नही करता है उसको " पापाश्रमण " कहते हैं ॥ ७२ ॥

पांच प्रमादोंको सेवन करनेका नतीजा ॥

(आर्यावृत्तम्)

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया ।
ए ए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे ॥७३॥

मद्य (शराव–दारू) विषय (पांच इन्द्रियोंका) कषाय, निद्रा, और पांचमी विकथा इन पांच प्रमादोंको जो पुरुष प्रतिदिन सेवन करता रहता है वह संसारमें डूबता ही रहता है ।

वि. मदिराका सेवन सब दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है पांच इन्द्रियोंके विषयि मनोहर पदार्थमें मूर्छा करता है । क्रोद्धादि आत्म हितको नाश करता है । निद्रा ज्ञान ध्यानमें व्याघात डालती है । और विकथा अमुल्य समयको नष्ट करती है । इसलिए इन पांच प्रमादोंसे जीवोंको संसारमें जन्म मरण करना पडता है।७३।

अधिक निद्रासे हानी ।

जइ चउदसपुव्वधरो, वसई निगोएसुऽणं तयं कालं ।
निद्दापमायवसओ, ता होहिसि कह तुमं जीव ॥७४॥

जब निद्रारूप प्रमादके वश होकर चौदह पूर्वधारी निगोदके अन्दर अनन्तकाल तक रहते हैं तो हे जीव! तेरा क्या होगा? अर्थात् तूं रात और दिन निद्रारूपी प्रमादके वश पड़ा है तो कदापि आत्म कल्याण नहीं कर सकेगा। इसलिए अधिक निद्राको छोड! और ज्ञान ध्यानमें लीन हो! ॥७४॥

ज्ञान और क्रियाकी आवश्यक्ता ।

(अनुष्टुब वृत्तम्)

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥७५॥

क्रियाहीन जो ज्ञान वह हणाया हुआ है। और ज्ञानहीन क्रिया सोमी हणाई हुई है अर्थात् ज्ञानसे शुभाशुभ कृत्य जानता है, परंतु जो शुभ क्रिया नहीं करता है तो कुछ भी सिद्धि नहीं होती।* दृष्टान्तसे भी सिद्ध है कि पंगुला देखता हुआ जलता है और अन्धा दौडकर जलता है।

वि० धर्मक्रियामें प्रमाद करनेवाला पुरुष वस्त्र, पात्र, रहनेका स्थानादिकी तपास—चौकस नहीं करता, प्रमार्जन नहीं करता, जिससे अंधेरेमें अपनी आत्मघात होती है इसलिए ज्ञानीको भी निरंतर क्रियामें रक्त रहना उचित है। और सचित, अचित्तका भेद

ज्ञानसे होता है इसलिए ज्ञानाभ्यास अवश्य करना चाहिए । ज्ञान और क्रियाके मिलनेसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है । जैसे किसी जंगलमें आग लगने पर अंधा पंगुको लेकर आग्नानीसे बच सकता है परन्तु अकेला नहीं बच सक्ता ॥ ७९ ॥

(उपजाति वृत्तम्)

संजोग सिद्धि अ फलं वयंति, न हु एग चक्केण रहो पयाई ।
अंधो य पंगोय वणए समिच्चा, ते संपणट्ठा नगरं पविट्ठा॥७६॥

विद्वान पुरुष ज्ञान और क्रियाके सयोगसे ही मोक्षपदकी प्राप्ति करते है, क्योंकि एक पहियेसे रथ चल नही सकता, जबतक कि दो पहियोका ममागम न हो । जैसे अंधेके कंधे पर पंगुला बैठ गया और सिधा रास्ता बतलाता गया जिससे दोनों अपने नगरको पहुँच गए ॥ ७६ ॥

चारित्रकी प्राधान्यता ॥

(आर्यावृत्तम्)

सुबहुंपि सुअभमहीअं,, किंकाही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडीओ ॥७७॥

अत्यन्त ज्ञानाभ्यास क्रिया हो तो भी वह ज्ञानाभ्यास चारित्र रहितको मोक्षके लिए नहीं होता है । और वह चारित्र रहित पुरुष कुछ परमार्थ नहीं कर सक्ता है । अर्थात् कुछ भी आत्म तत्त्वज्ञान नहीं मिल सक्ता । जैसे लाखों क्रोड़ों दीपक प्रज्वलित करनेसे अन्धेको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता, इस तरहसे चारित्रहीन ज्ञानीका हाल है ॥७७॥

अप्पंपि सुअमहीअं, पयासगं होइ चरण जुत्तस्स ।
इक्कोवि जह पईवो, सचक्खु अस्सा पयासेई ॥ ७८ ॥

चारित्रयुक्त पुरुषोंको कम पढी हुई विद्या भी प्रकाश करनेवाली होती है, जैसे चक्षुवालेको एक दीपक भी प्रकाश देता है वैसेही अच्छे उद्यमसे 'क्षयोपशम' के अनुसार थोडासा विद्याभ्यास कर अच्छा चारित्र पालकर श्रुत पारंगामी होकर केवलज्ञानको प्राप्त करता हुआ मोक्षपदको प्राप्त करता है ॥७८॥

श्रावककी ग्यारह पडिमा ।

दंसण वय सामाइय, पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते ।
आरंभ पेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए अ ॥ ७९ ॥

समकित प्रतिमा १ व्रत प्रतिमा २ सामायिक प्रतिमा ३ पौषध प्रतिमा ४ कायोत्सर्ग प्रतिमा ५ अब्रह्मवर्जक प्रतिमा ६ सचित वर्जक प्रतिमा ७ आरंभ वर्जक प्रतिमा ८ प्रेष्यवर्जक प्रतिमा ९ उद्दिष्ट वर्जक प्रतिमा १० और श्रमणभूत प्रतिमा ११ इनका विशेष वर्णन श्रीमान् न्यायांभोनिधि जैनाचार्य्य श्रीमद्विजयानंद-सूरीश्वर (श्री आत्मारामजी महाराज) के बनाए हुए ग्रंथ 'जैनतत्त्वादर्श' आदिसे देख लेवें ॥७९॥

श्रावकको प्रतिदिन क्या श्रवण करना चाहिए।

संपत्तदंसणाई, पइदियह जइजणाओ निसुणेई ।
सामायारिं परमं, जो खलु तं सावगं विंति ॥ ८० ॥

जिसने सम्यत्त्व प्राप्त किया है अर्थात् निखिल दर्शनादि प्रतिमाएं जिसने आराधन की है ऐसे श्रावक प्रतिदिन मुनिजनोंके

प्राप्त परम उत्कृष्ट ऐसी समाचारीको सुने । निस्सन्देह श्री तीर्थंकर देव उसको श्रावक कहते हैं ॥८०॥

(उपजाति वृत्तम्)

जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, भारस्सभागी न हु सुगइए ॥८१॥

चन्दनके काष्टको उठानेवाला गर्दभ, केवल भारमात्रको ही उठाता है । लेकिन वह चन्दनके लेपकी शीतलताको प्राप्त नहीं कर सकता, वैसेही चारित्र, धर्महीन ज्ञानी पुरुष सिर्फ ज्ञानका बोझ उठानेका ही भागी है न कि सद्गतिके परम शान्तिके स्थानका भागी है ॥८१॥

स्त्रीसंगमें रहे हुए दोषोंका वर्णन ।

(अनुष्टुप वृत्तम्.)

नहिं पंचिंदि आजीवा, इत्थीजोणी निवासिणो ।
मणुआणं नवलक्खा, सव्वे पासेई केवली ॥८२॥

स्त्रीकी योनिके निवासी, ऐसे नौ लक्ष पंचेन्द्रिय मनुष्य हैं उन सबको केवल ज्ञानी देख सकते हैं । वि. स्त्रीका रूधिर (खून) और पुरुषके वीर्यके मिलनेसे नौलक्ष पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं । उनमेंसे दो तीन जीवोंको छोड कर बाकीके सब नाश भावको प्राप्त होते हैं । इस वर्णनको केवली भगवान जानते हैं ॥८२॥

(आर्यावृत्तम्)

इत्थीणं जोणीसु, हवंति वेइन्दिया य जे जीवा ।
इक्कोय दुन्नि तिन्निवि, लक्खपहुत्तं तु उक्कोसं ॥८३॥

स्त्रीकी योनीके अंदर बेइन्द्रि जीव जो हैं उनकी संख्या शास्त्र-कारने एक, दो या तीन उत्कृष्टा लाख पृथक्त्व कही हुई है ॥८३॥

पुरिसेण सहगयाए, तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुअ दिट्ठंतेणं, तत्ताइ सिलागनाराणं ॥ ८४ ॥

गरम की हुई लोहेकी सली को रूईसे भरी हुई नलीमें दाखिल करनेके दृष्टान्तसे पुरुष स्त्रीके संयोग होनेसे उन पूर्वोक्त जीवोंका नाश होता है।

वि० शरीरको मलीन स्थानोंमें, योनी अधिक मलिनताका स्थान है। उसमें अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं, उन सभीका नाश पुरुषके समागमसे ही होता है। शास्त्रकार कहते है कि पोले वांसकी भूंगलीमें अच्छी तरह रूई भरकर उसमें खूब गरम कियी हुई लोहकी सली डालनेसे वह रूई फोरन जलजाती है। इसी तरह पुरुषके संयोगसे स्त्रीकी योनीके जीवोंका नाश होता है ॥८४॥

इत्थीण जोणिमज्झे, गब्भगयाइं हवंति जे जीवा ।
उप्पज्जंति चयंति य, समुच्छिमा असंखया भणिया ॥८५॥

स्त्रीकी योनीमें उत्पन्न होनेवाले जो जीव हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नाश होते हैं और सम्मूर्छिम जीव भी असंख्यात कहे है।८५।

मेहुण सन्नारूडो, नवलक्ख हणेई सुहुम जीवाणं ।
तित्थयरेणं भणियं, सद्दहियव्वं पयत्तेणं ॥ ८६ ॥

स्त्रियोंका कामी मनुष्य नव लाख सूक्ष्म जीवोंका नाश करता है। इसलिए श्री तीर्थंकर देवने कहा है कि तुच्छ सुखके कारण आत्म हितका नाश करना उचित नहीं ॥८६॥

(उपजाति वृत्तम्.)

असंख इत्थी नर मेहुणाओ, मुच्छंति पंचिंदिय माणुसाओ।
निसेस अंगाण विभत्ति अंगे, भणई जिणो पन्नवणा उवंगे।८७।

स्त्री और पुरुषके मैथुनसे असंख्यात सम्मूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा सम्पूर्ण सूत्रोंमें कहा है ॥८७॥

(अनुष्टुब वृत्तम्.)

मज्जे महुंमि मंसंमि, नवणीयंमि चउत्थए।
उप्पज्जंति असंखा, तव्वान्ना तत्थ जंतुणो ॥८८॥

मदिरा (शराब) मे, मांस मे, मधु (शहद)मे, और मक्खन में, इनहीके सदृश असंख्य जन्तु पैदा होते हैं ॥८८॥

(आर्यावृत्तम्.)

आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सययं चिय उववाओ, भणिओ अ निगोअजीवाणं।८९।

कच्चे मांसमें, पक्के मासमें, पकते हुए मांसकी पेसी (टूकडे) में निरन्तर निगोदिये जीवोंकी उत्पत्ति कही है ॥८९॥

व्रत [नियम] तोड़नेका परिणाम।

आजम्मं जं पाव, बंधइ मिच्छत्त संजुओ कोई।
वयभंग काउमणो, बंधइ तंचेव अट्ठगुणं ॥९०॥

मिथ्यात्त्वसे युक्त प्राणी जन्मपर्यन्त जितना पाप उपार्जन करते हैं, उससे भी आठगुणा पाप व्रत (नियम) को तोड़नेके परिणामवालेको लगता है।

(अनुष्टुब वृत्तम्)

सयसहस्साण नारीणं, पिट्टं फाडेइ निग्घिणो ।
सत्तट्ठमासिए गब्भे, गप्फडंते निकत्तइ ॥ ९१ ॥

(आर्यावृत्तम्)

तं तस्स जत्तियं, पावं तं नवगुणिय मेलियं हुज्जा ।
एगित्थि य जोगणं, साहुवंधिज्ज मेहुणओ ॥ ९२ ॥

एक लाख गर्भवती स्त्रियोंके पेट निर्दयतासे फाड दिये जायं, और उनमेंसे बाहार निकले हुए सात आठ मासके तडफते हुए गर्भोंको मारडाले तो प्राणी को जितना पाप लगाता है उससे नौ गुणा पाप साधु को एक स्त्री के संयोग से मैथुन सेवन करने मे लगता है॥९१॥९२॥

सम्यक्त्व किसके पास ग्रहण करना योग्य है।

अखंडीय चारित्तो, वयधारी जो व होई गीहत्थो ।
तस्स सगासे दंसण, वयगहणं सोहिकरणं च ॥ ९३ ॥

अखंड चारित्रवंत मुनि अथवा व्रत धारि गृहस्थ हो उसके पाससे सम्यक्त्व (समकित) तथा व्रत (नियम) ग्रहण करना और प्रायश्चित्त भी उससे लेना योग्य है ॥९३॥

स्थावर जीवोंमें रहे हुए जीव ।

अद्दामलय पमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा ।
तं पारेवय मित्ता, जंबू दीवे न मायंति ॥ ९४ ॥

हरे आमले माफीक पृथ्वीकायमें जो जीव रहते हैं उन

सबका शरीर यदि कबुतरके समान हो जाय तो जम्बु द्विपके अन्दर भी वे जीव नही समा सक्ते ॥९४॥

एगंमि उदगबिंदुमि, जे जीवा जिणवरे हिं पन्नत्ता।
ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ॥९५॥

एक पानीकी बूंदमें जो जीव जिनेश्वरदेवने कहे है वे सिर्फ सरसवके दाने जितने शरीर होजायं तो वे जीव जंबुद्विपके अंदर भी नही समा सक्ते ॥९५॥

बरंटतंदुलमित्ता, तेउकाए हवंति जे जीवा।
ते जइखस खसमित्ता, जंबू दिवे न मायंति ॥९६॥

वटी-तन्दुल (चांवल) सिर्फ तेउकायके अन्दर जितने जीव है उनको यदि खसखसके दाने समान शरीरवाले करे तो वे जीव भी जबूद्विपके अन्दर आ नहीं सक्ते ॥९६॥

जे लिंब पत्तामित्ता, वाउकाए हवंति जे जीवा।
तं मत्थयलिक्खमित्ता, जंबू दीवे न मायंति ॥९७॥

नीमके पत्ते जितने स्थानके रोकनेवाले वायुकायमें जो जीव हैं वे प्रत्येक सीर की लीख जितने ही शरीरवाले करें तो जंबूद्विपमे नहीं समा सक्के ॥ ९७ ॥

असुइठाणे पडिआ, चंपकमाला न कीरइ सीसे।
पासत्थाई ठाणे, सुवट्टमाणो तह अपुज्जें ॥ ९८ ॥

पासत्थाके संगमें निवास करनेवाले मुनि अवन्दनिक है। अपवित्र स्थानके अंदर गिरी हुई चमेलीके पुष्पकी मालाको पुरुष पुन. उसे ग्रहण नही करता उसी तरह पासत्थादिकके सहवासमें

निवास करनेवाले मुनि भी अपूज्य हैं अर्थात् पूजनेके योग्य नहीं हैं॥९८॥

छठ्ठम दसम दुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहि ।
इत्तोउ अणेगगुणा, सोहा जिमियस्स नाणिस्स ॥९९॥

'छठ्ठम' 'अठ्ठम' 'दसम' 'दुवालस' और मास खमण करनेसे जो शोभा देता है उससे भी अधिक शोभा प्रतिदिन भोजन करनेवाले ज्ञानीकी है ।

वि० ज्ञानसे विमुख गृहस्थ या लोकोंको खुश करनेके लिए जो तपश्चर्या करे और शोभा प्राप्त करे, उससे भी अधिक ज्ञान ध्यानमें रक्त साधु किसी कारण विशेषसे तपश्चर्या न करे तो भी शोभा पाता है ॥९९॥

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआइं वासकोडीहिं ।
तन्नाणी तिहिंगुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेणं ॥१००॥

क्रोडों वर्ष तक अज्ञानी जितने कर्मोंको क्षय करता है उतने कर्मोंको ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति युक्त वर्त्तता हुआ सिर्फ श्वासोस्वासमें क्षय करता है ॥ १०० ॥

देव द्रव्यकी रक्षा करनेका फल ।

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
रक्खंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥१०१॥

जिन प्रवचनकी वृद्धि करनेवाला और ज्ञान दर्शन गुणका प्रभावक तथा देवद्रव्यका रक्षण करनेवाला जीव तीर्थंकर गोत्रको प्राप्त करता है ।

वि० जिनेश्वरदेवके तत्वज्ञानको जगतभरमें फैलावे और जिनेश्वरदेवके कहे हुए तत्त्वोंकी उत्तमताको भव्यात्माओंके हृदयमें श्रद्धान करवावे और देवद्रव्यकी रक्षा करे। इन कृत्योके करनेसे जीव तीर्थंकर गोत्र प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥

जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं ।
भक्खवंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होई ॥१०२॥

जिन प्रवचनकी वृद्धि करने वाला और ज्ञान दर्शन गुणका प्रभावक हो लेकिन प्रमादवश होकर देव द्रव्यका नाश करे या दुरुपयोग करे तो वह जीव अनंत संसारी हो जाता है ॥ १०२ ॥

(अनुष्टुब् वृत्तम्.)

भक्खवेइ जो उवेक्खंवेई, जिणदव्वं तु सावओ ।
पन्नाहीणो भवे जीवो, लिप्पइ पावकम्मुणा ॥१०३॥

जो श्रावक देव द्रव्यका भक्षण करता है, अथवा नाश होते हुए उपेक्षा करे तो वह जीव बुद्धिहीन हो जाता है। और पापोंसे लिप्त हो जाता है ॥ १०३ ॥

चार बड़े अकार्योंको छोड़ना चाहिए।

(आर्यावृत्तम्.)

चेइअदव्वविणासे, रिसिघाए पवयणस्सउड्डाहे ।
संजइचउत्थभंगे, मूलग्गी बोहिलाभस्स ॥१०४॥

देव द्रव्यका नाश करनेवाला, एवं मुनिकी घात करनेवाला, प्रवचनका उड्डाह करनेवाला और साध्वीके चतुर्थ व्रत (ब्रह्मचर्य)

का भंग करनेवाला, समकित रूपी वृक्षके मूलमें अग्निको रखता है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करके नाश कर देता है और दुर्लभ बोधि हो जाता है ॥ १०४ ॥

पूजा करनेके भाव भी अत्यंत ही फलदायक हैं ।

सुव्वइ दुग्गयनारी, जगगुरुणो सिंदुवारकुसुमेहिं ।
पूआपणिहाणोहि, उप्पन्ना तियसलोगंमि ॥१०५॥

सुनते हैं कि एक दरिद्री स्त्रीने सिन्दुवर (फूलकी एक जाति)के पुष्पोंसे प्रभूकी पूजा करनेमें दृढ भावना रखी थी, जिससे देव-लोकमें उत्पन्न हुई। इसलिए भव्यात्माओंको शक्ति अनुसार देव पूजनमें समय लगाना चाहिए ॥१०५॥

गुरुको वन्दन करनेका फल ।

तित्थयरत्तं सम्मत्तखाइयं सत्तमी तईयाए ।
वंदण एणं विहिणा,बद्धं च दसारसीहेणं ॥१०६॥

श्री तीर्थंकर पद, क्षायिक समकित, और सातवीं नरकसे तीसरी नरकका बंध गुरुको वंदन करने (विधिपूर्वक वांदने)से कृष्णजीने उपार्जन किया ।

वि० श्री कृष्णजीने सातवीं नरकके कर्मके दलये एकट्ठे किये थे किन्तु श्रीनेमिनाथको अठारह हज़ार साधुओंके साथ विधिपूर्वक वन्दन किया जिससे क्षायिक समकित, तीर्थंकर गोत्र, प्राप्त कर चार नारकीके दुःखको दूर किया । निश्चल समकितको क्षायिक समकित कहते है, जो प्राप्त हो जाने बाद नष्ट नहीं होता ॥१०६॥

द्रव्यस्तवका स्थापन ।

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणु करणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥१०७॥

समस्त प्रकारसे धर्मकार्यमें नहीं प्रवृत्त हुए, ऐसे विरता-विरतिश्रावकको उस संसारको पतला करनेके लिए द्रव्यस्तव आचरने योग्य है । उसके लिए कूपका दृष्टान्त देते हैं ।

वि० ससारमे मोह नष्ट होनेसे गृहस्थि श्रावक भी यथा-शक्ति व्रत (नियम) पच्चाखाणको धारण करता हुआ देश विरति होकर वीतरागका बहुत मान करके अपनी संपत्ति (धन) को जिनन्द्रको पूजनमें लगावे । और संसारमें परिग्रह कम रखे, तो पूजामें अल्प हिंसा होनेपर भी बहुत लाभ प्राप्त करता है । क्योंकि कूएको खोदते वक्त कितना ही कष्ट होता है लेकिन जब पानी निकलता है उस समय सब कष्ट दूर हो जाता है और परमानंद प्राप्त होता है । इसी तरह वीतरागकी पूजन कर-नेसे द्रव्य मूर्छा कम हो जानेसे, भविष्यमें साधु पदको प्राप्त करता है ॥ १०७ ॥

क्रोद्धका फल ।

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं च कसायथोवं च ।
न हुते विससिअव्वं, थोवंपि हु तं बहु होई ॥ १०८ ॥

ऋण (कर्ज़) कम हो, व्रण (फोड़ा फुन्सी) कम हो, अग्नि कम हो, और कषाय भी कम हो, लेकिन इनका विश्वास नहीं

करना । क्योंकि ये सब थोड़े हों तो भी अधिक हो जानेका संभव है । अर्थात् इन्हे बढ़ते हुए समय नहीं लगता ॥ १०८ ॥

मिच्छामि दुक्कडंका प्रवर्त्तन. ।

जं दुक्कडंति मिच्छा, तं भुज्जो कारणं अपूरंतो ।
तिविहेण पडिक्कंतो, तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥१०९॥

जो दुष्कृतको मिथ्या करे और दुष्कृत संबंधी कारणको पुनः नहीं सेवन करे और जो पडिक्कमें (प्रायश्चित लेवे) तो उसका सत्य मिथ्या दुष्कृत जानना ॥१०९॥

जंदुक्कडंति मिच्छा-तं चेव निसेवइ पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावाई, मायानियडिप्पसंगो अ ॥११०॥

जो दुष्कृत्य (पाप)को मिथ्या करे, उसी पापके कारणको पुन. सेवन करे तो प्राणियोंको प्रत्यक्ष मृषावादी और मायावी (कपटी) निबिड प्रसंगवाला जानना । यानि वह पुरुष वास्तवमें कपटी और झूठा सावित होता है ॥११०॥

मिच्छामि दुक्कडं शब्दका अर्थ ।

मिति मिउ मद्दवत्ते, छत्तीदोसाण छायणे होई ।
मित्तिअ मेराइटिओ, दुत्ति दुगंछामि अप्पाणं ॥१११॥
कत्ति कडं मे पावं, डत्तिय डेवमि तं उवसमेणं ।
एसो मिच्छादुकड, पयक्खरत्थो समासेणं ॥११२॥

"मि"—"मृदु" मार्दवताके अर्थमें है, "च्छा"—दोषोंका आच्छादन (ढकना) के अर्थमें है । "-मि"—मर्यादामें रहनेके

लिए और "दु"—आत्माकी मलिनताकी दुगच्छा करनेके अर्थमें है। "क"—मेरे किये हुए पापोंका सूचक है और "ड"—उन पापोंको उपशम द्वारा जला देता हूँ ऐसे कहते है। इसमाफ़ीक "मिच्छामि दुक्कड" शब्दका अर्थ एक २ अक्षर-पर संक्षेपसे कहा गया ॥१११॥११२॥

॥ चार प्रकारके तीर्थोंका वर्णन् ॥

नामं ठवणा तित्थं, दव्वं तित्थं च भाव तित्थं च ।
इक्किक्कंमि य इत्तो, ऽणेगविहं होई नायव्वं ॥११३॥

नाम तीर्थ, स्थापना, द्रव्य तीर्थ और भाव तीर्थ इस प्रकार मुख्यतया तीर्थके चार भेद है। एक २ के अनेक भेद हैं सो अन्य शास्त्रोंसे जानना चाहिये ॥ ११३ ॥

दाहोवसमं तन्हाइ छेयणं मलपिवाहणं चेव ।
तिहिं अत्थेहिं निउत्तं, तम्हा तं दव्व ओतित्थं ॥११४॥

दाहका उपशम करना, तृष्णाको शान्त करना, और मलको दूर करना; इन पूर्वोक्त तीन बातोंसे युक्त हो तो उसे द्रव्य तीर्थ कहते हैं ॥ ११४ ॥

॥ भाव तीर्थका स्वरूप ॥

कोहंमिउ निग्गहिए, दाहस्स उवसमणं हवइ तित्थं ।
लोहंमिउ निग्गहिए, तन्हाए छेयणं होई ॥११५॥
अट्ठाविहं कम्मरयं, वहुएहि भवेहिं संचियं जम्हा ।
तवसंजमेण धोवइ, तम्हा तं भावओतित्थं ॥११६॥

क्रोधका निग्रह करनेसे दाहको उपशम रूपी तीर्थ हो, और लाभको निग्रह होनेसे, तृष्णाके छेदनरूप तीर्थ होता है। आठ प्रकारके कर्मरूपी रज वहुत भवो भवसे जो संचय किये हैं वे तप और संयमसे धोये जाते हैं। फिर जो निर्मल आत्मा होता है उसको भाव तीर्थ कहते हैं ॥११५॥११६॥

दंसणनाणचरित्ते, सुनिउत्तं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
एएण होइ तित्थं, ऐसो अन्नोवि पज्जाओ ॥११७॥

ज्ञान, दर्शन और चरित्र युक्त हो उसको सर्व जिनेश्वर देवोंने तीर्थरूप कहा है। जिससे ये रत्नत्रयके संयुक्त होनेसे तीर्थ कहलाते है। इसी तरह अन्य पर्याय भी शास्त्रोंसे जानना चाहिए ॥ ११७ ॥

सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवायं ।
अवराहेसु गुणेसुअ, निमित्तमित्तं परो होइ ॥११८॥

तमाम जीव पूर्वकृत कर्मानुसार फलको प्राप्त करते है अपराधके विषयमें और गुणके विषयमें दूसरे तो निमित्त मात्र ही समझना चाहिए ॥११८॥

धारिज्जइ इत्तोजलनिही विकल्लोलभिन्नकुलसेलो ।
न हु अन्नजम्मनिम्मिय, सुहासुहो कम्मपरिणामो ॥११९॥

स्वकीय कल्लोलें करके बड़े पर्वतको जिसने भेदन कर दिया है ऐसे समुद्रको धारण कर सक्ते है, लेकिन अन्य जन्मके किये हुए कर्मोके परिणामको धारण नहीं कर सक्ते। अर्थात पूर्व संचित कर्म विनाभोगे छुटकारा नहीं है ॥११९॥

अकयं को परिभुंजइ, सकयं नासिज्ज कस्स किरकम्मं ।
सकयमणुभुंजमाणो, कीस जणो दुम्मुणो- होई ॥१२०॥

नहीं किये हुए कर्मोको कौन भोगता है? खुद किये हुए कर्म्म किसके नाश होते है? अर्थात् बिना किये कर्मोंको कोई भी नहीं भोगता; और किये हुए कर्म कदापि नाश नही होते हैं। तब अपने कर्मोंको भोगता हुआ प्राणी क्यों दुर्मनवाला होता है? ॥१२०॥

पौषधका फल ।

पोसइ सुहभावे, असुहाइ खवेइ नत्थि संदेहो ।
छिंदइ नरयतिरियगइ, पोसहविहि अप्पमत्तो य ॥१२१॥

पौषधकी विधिके विषय अप्रमत्त—अप्रमादी ऐसे मनुष्य शुभ भावका पोषण करते है। अशुभ भावका क्षय करते है। और नरक तिर्यंच गतिका नाश करते हैं इसमे कोई सन्देह नही है ॥ १२१ ॥

॥ जिनपूजा कितने प्रकारकी है? ॥

वरगंधपुप्फ अक्खय, पईवफलधूवनीरपत्तेहि ।
नेविज्जविहाणेण य, जिणपूआ अट्ठहा भणिया ॥१२२॥

श्रेष्ठ १ गंध २ पुष्प ३ अक्षत (चांवल) ४ दीपक ५ फल ६ धूप ७ जलपात्र ८ और नैवेद्यके विधान करके जिनेश्वर देवकी अष्ट प्रकारकी पूजा होती है ॥ १२२ ॥

॥ जिनेश्वर देवकी पूजाका फल ॥

उवसमइ दुरियवग्गं, हरइ दुहं कुणइ सयलसुक्खाइं ।
चिंताईयंपि फलं, साहइ पूआ जिणंदाणं ॥१२३॥

श्री जिनेश्वरदेवकी पूजा सर्व पापोंका नाश करनेवाली है। और तमाम दुःखोंको दूर करती है; समस्त सुखोंको उत्पन्न करती

है। और चिन्तातीत चिन्तवनसे भी अशक्य ऐसे मोक्षफलको प्रदान करनेवाली है ॥ १२३ ॥

॥ धर्मकार्यमें पुण्यकी प्रबलता ॥

धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना।
विहिबहुमाणा धन्ना, विहिपक्ख अदुसगा धन्ना ॥१२४॥

विधिका योग धन्य पुरुषोंको होता है। विधिपक्षके आराधन करनेवालेको सदैव धन्य है। विधिका बहुमान्य करनेवालेको धन्य है। और विधिपक्षको दोष न दे उसको भी धन्य है ॥१२४॥

इस ग्रंथको पढनेसे होनेवाला फल।

संवेगमणो संबोहसत्तरिं जो पढइ भव्वजिवो।
सिरिजयसेहरठाणं, सो लहइ नत्थि संदेहो ॥१२५॥

संवेग युक्त मनवाले होते हुए जो भव्यात्मा इस संबोधसत्तरि प्रकरणको एकाग्र चित्त कर पढ़ता है वह श्री जयशेखर स्थान—मोक्षस्थानको प्राप्त करे इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१२५॥

(अनुष्टुब् वृत्तम्.)

श्रीमन्नागपुरीयाह्व, तपोगणकजारुणाः ॥
ज्ञानपीयूषपूर्णांगाः सूरींद्रा जयशेखराः ॥१॥
तेषां पात्कजमधुपा, सूरयो रत्नशेखराः ॥
सारं सूत्रात् समुद्धृत्य, चक्रुः संबोधसप्ततिं ॥२॥

श्रीमन्नागपुरीय नामक तपगच्छरूपी कमलको सूर्य समान और ज्ञानरूपी अमृत द्वारा पूर्ण शरीरवाले श्रीमान् जयशेखर नामके सूरींद्रके चरण कमलमें भ्रमर समान श्रीरत्नशेखर नामके आचार्य्य महाराजने सूत्रोंमेंसे श्रेष्ट २ गाथाएं उद्धार कर यह सम्बोधसत्तरि नामक प्रकरणकी रचना की है ॥

॥ समाप्तमिदं पुस्तकम् ॥

सक्कयमणुभुंजमाणो, कीस जणो दुम्मणो

२० मृगांकलेखा एक सतीका
जीवनचरित्र हिंदी ।=)
२१. स्वामी दयानंद और जैनधर्म „ ॥)
२२ स्नात्र पूजा हिंदी)॥

नोट—विनामूल्य ट्रैक्टोंके लिये डाक खरच अगाऊ आना चाहिये

नोट—२५ पचीस पुस्तकोंसे कम सैंकडाके हिसाबमे नहीं जायगी । जो ट्रैक्ट विनामूल्यके हैं वे एक या दो विनामूल्य भेज सकते हैं । अधिक मगाने हो तो लागत मुजब दाम लिया जायगा ।

मिलनेका पता—

चिरजीलाल सैक्रेटरी,

श्रीआत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी—**अंबाला शहर ।**

Printed by —
Moolchand Kisondas Kapadia at his '*Jain Vijaya*
printing press, near Khapatia Chakla,
Laxminarayan's wadi—*Surat*

Published by .—
Lala Chiranjilal Jain, Secretary Shree Atmanand
Jain Tract Society, From AMBALA City